

भगवद्गीता में विश्वकल्याण की भावना (चतुर्थ अध्याय के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ देवी सिंह

सारांश:

श्रीमद्भगवद्गीता सभी उपनिषदों का निष्कर्ष रूप है, जिसके दिव्यज्ञान में ज्ञान, कर्म और भक्ति की धरा प्रवाहित हो रही है। योगीराज श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में अपने आप को योग का आदि प्रवक्ता बताते हुए पुनर्धर्मसंस्थापक एवं वर्णविभाजक भी कहा है क्योंकि कर्मयोग के लिए पहले कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि योगियों द्वारा जब योगाभ्यास आरम्भ किया जाता है तो सर्वप्रथम वे श्रोत्रा, त्वक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों पर संयम करते हैं, तदनन्तर शब्दादि विषयों में आसक्त न होकर इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विश्वकल्याणार्थ अनेक तत्त्वों का अध्ययन करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता सभी उपनिषदों का तत्त्वस्वरूप है। अनेक सन्ततियों ने अपने संशय के क्षणों में इससे जीवन का नूतन मार्ग प्राप्त किया है। यह एक ऐसा रत्न है जिसकी विमल आभा सबको आकर्षित कर लेती है। इसका दिव्यज्ञान लोककल्याण की भावना का प्रचारक है। यह व्यक्ति के उज्ज्वल भविष्य का निर्माता होने से साथ-साथ भारत का एक धर्मग्रन्थ भी है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य मनुष्य के भौतिक जगत् के अज्ञान के दूर करके उसे मोक्षार्थ सन्मार्ग पर लगाना है, क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयों में फंसा रहता है, ठीक उसी तरह अर्जुन भी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिय असमंजस की स्थिति में था। फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने उसे गीता-ज्ञान प्रदान किया, जिससे अर्जुन को एक सदज्ञान प्राप्त हुआ। एक स्थल पर भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो मनुष्य दोष दृष्टि से रहित तथा श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत अथवा मेरे द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान का सदैव अनुसरण करते हैं, वे सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं।¹ प्रकृत शोधपत्र का केन्द्र बिन्दु श्रीमद्भगवद्गीता का 'ज्ञानकर्म-संन्यास योग' नामक चतुर्थ अध्याय है। जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि कर्मयोग की भावना से कर्तव्य पालन करने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है। जिससे साधक में सत्यज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता आ जाती है। साधन, मनन और निदिध्यासन को ज्ञान की दृढ़ता का आधारभूत माना गया है, इसीलिये इस अध्याय में ज्ञान-योग पर अधिक बल देकर उसके अभ्यास का आग्रह किया गया है, जिससे लोककल्याण की भावना प्रस्फुटित होती है।

भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ज्ञान, कर्म और संन्यास योग अविनाशी है। मैंने इस अविनाशी योगविद्या का उपदेश सृष्टि के आदि में सूर्यदेव विवस्वान् को दिया, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु तक इसे गुरु-शिष्य परम्परा से पहुंचाया। परन्तु बीच में यह परम्परा छिन्न हो गई। आज मेरे द्वारा वही यह प्राचीन योग यानी परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का विज्ञान तुमसे कहा जा रहा है।² अतः गीता किसी मामूली सांसारिक विद्यार्थी के लिये कोई

एसो. प्रो. संस्कृत विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, सै 32 सी, चण्डीगढ़

काल्पनिक भाष्य नहीं, अपितु ज्ञान का मानक ग्रन्थ है। जो बहुत समय से चला आ रहा है। कृष्ण कहते हैं कि आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर तथा मुझे में पूर्णतया तन्मय होकर और मेरी ही शरण में आकर व्यक्ति ज्ञान और तप से पवित्र होकर मेरे जैसी लोककल्याण की भावना से युक्त हो जाते हैं।¹³

मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर सभ्य और सन्तुलित मानव समाज की स्थापना के लिये मनुष्य समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभाजित किया है।¹⁴ कर्मयोग चाहे सकाम भाव वाला हो या निष्काम परन्तु वह फलदाता होता है। इसलिये मनुष्य संसार में कर्मों की सिद्धि चाहते हैं। और उसके लिये वे देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि इस मानव-सृष्टि में सकाम कर्म का फल शीघ्र प्राप्त होता है।¹⁵ हे अर्जुन! मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं पड़ता, नहीं मैं किसी कर्मफल की कामना करता हूँ। जो मेरे विषय में इस सत्य को जानता है, वह भी कर्म के फल की बेड़ियों में नहीं बंधता अर्थात् वह व्यक्ति मुक्त हो जाता है।¹⁶

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'निष्काम कर्मयोग' है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'¹⁷ इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को निष्काम कर्म की ही बात कही है। निष्काम कर्मयोग में अद्भुत सामर्थ्य है। ऐसे कर्म से व्यक्ति और समाज दोनों का परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करने वाले योगी का उद्योगरत रहने के कारण शरीर निरोगी और स्वच्छ रहता है। उसके इस प्रयास से उस समाज का भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योग-क्षेम चलता है, क्योंकि कर्मयोगी किसान, ज्यादा पैसा मिलेगा इस लालसा से अफीम या तंबाकू नहीं बेचेगा। वह अपने कर्म का सम्बन्ध कल्याण के साथ जोड़ता है। स्वधर्मरूप कर्म समाज के लिये हितकर ही होगा। अपने को भूलकर अपने आसपास के समाज से समरस होने वाले ऐसे कर्मयोगी जिस समाज में पैदा होते हैं, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि और सौमनस्य रहता है। इसी कर्म को समझाते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि इस जगत् में रहते हुए जीवन में किसी प्रकार के कर्म करने चाहिये और किस प्रकार के कर्म नहीं करने चाहिये, इस विषय में सूक्ष्मदर्शी (विद्वान्) भी धोखा खा जाते हैं, क्योंकि मनुष्य को कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये, विकर्म (विपरीत कर्म या वर्जित कर्म) को भी जानना चाहिये और अकर्म (आलस्यवश अकर्मण्यता) को भी जानना चाहिये। इन तीनों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि कर्म की गति अर्थात् रहस्य का समझना बड़ा कठिन है। यहां 'कर्म' से अभिप्राय व्यक्ति का अपना सद्कर्म, जैसे- क्षत्रिय का कर्म है-दुष्टों का हनन करना। 'विकर्म' जैसे कोई पागल व्यक्ति आतंकी बन जाये तो उसको पकड़कर बांधना, उसकी चिकित्सा करना, किन्तु प्राण-दण्ड न देना। यदि गलती से प्राणदण्ड दे दिया तो यह विकर्म हो जायेगा। ऐसे ही 'अकर्म' को भी समझना चाहिये, जैसे कोई व्यक्ति आलस्य के कारण किसी करने योग्य कार्य को नहीं कर रहा है तो यह अकर्म हुआ। इस प्रकार कर्म की बारीकियों को समझना अत्यन्त कठिन होता है। जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखता है, जैसे- दुर्ग के रक्षक सिपाही का पहरा न देकर सन्ध्योपासना करना कर्म में अकर्म है और जो पुरुष अशुभ कर्म में कर्म को जान लेता है, जैसे- अर्जुन का अन्याय के पक्षपाती गुरु पितामह का वध करना अकर्म में कर्म हुआ, जो इस तत्त्व को समझ ले वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। उसे ही योगी समझना चाहिये,¹⁹ क्योंकि जिस व्यक्ति के सभी कर्मों का आरम्भ इच्छा तथा सुख-दुःख की कामना के निश्चय से रहित होता है और जिसने पूर्णज्ञान रूपी अग्नि में कर्मफलों का भरमसात् कर दिया है, उसको ही ज्ञानी अर्थात् साधुपुरुष 'पण्डित' या 'बुद्धिमान्' कहते हैं।¹⁰ जो व्यक्ति पूर्णरूप से संयमित होकर

मन और बुद्धि से अच्छी प्रकार विचार करके कार्य करता है और जो संग्रह—सामग्री के स्वामित्व को भी त्याग देता है, जो केवल जीवन—निर्वाह के लिये ही कर्म करता है, ऐसे व्यक्ति को किसी भी प्रकार के पाप प्रभावित नहीं कर सकते, क्योंकि पाप की मूल आसक्ति को ही उसने दूर कर दिया है।¹¹ ऐसा व्यक्ति स्वतः प्राप्त हुए लाभादि में सन्तुष्ट रहने वाला होता है। उसके जीवन में चाहे कितने भी सुख आ जाए या कितने भी दुःखों का प्रवेश हो, उसे सफलता मिले या असफलता, इन सभी अवस्थाओं में जो ईर्ष्यारहित, शान्तचित्त तथा स्थिरचित्त रहता है, वह व्यक्ति जीवनोपयोगी कर्मों को करता हुआ भी इस सांसारिक मोह—माया बन्धन में नहीं फंसता।¹²

गीता में विश्वकल्याण की भावना श्रीकृष्ण के इस वक्तव्य में स्पष्ट हो रही है जब वे कहते हैं कि हे अर्जुन! शास्त्रासम्मत कर्म सिद्धान्त के अनुरूप जिस व्यक्ति का चित्त स्थिर हो जाता है, वह सांसारिक ऐश्वर्यों की ओर ले जाने वाली सभी आसक्तियों के नष्ट हो जाने पर मुक्त हो जाता है, ऐसा व्यक्ति जो कुछ कर्म करता है, वह यज्ञ अर्थात् लोककल्याण के लिये ही करता है, न कि अपने स्वार्थपूर्ति के लिये। ऐसे व्यक्ति के सभी कर्म यज्ञ में धुल जाते हैं। वे कर्म ऐसे पुरुष के व्यक्तित्व को कहीं भी बन्धन में बाँध नहीं सकते, इसलिये वह मुक्त है।¹³ मुख्यतः यज्ञ के दो रूप हैं— बाह्य और आन्तरिक। कर्मकाण्ड में विश्वास रखने वाले केवल बाह्य यज्ञ तक ही सीमित रहते हैं। किन्तु कल्याण की ओर बढ़ने वाले याजक अपनी इन्द्रियों को संयमित करके उनका संयम की अग्नि में हवन करते हैं।¹⁴ अभिप्राय यह है कि योगियों द्वारा जब योगाभ्यास आरम्भ किया जाता है तो सर्वप्रथम वे श्रोत्रात्वक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों पर संयम करते हैं, तदनन्तर शब्दादि विषयों में आसक्त न होकर इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा लोक कल्याण अनेक तत्त्वों का अध्ययन करते हैं।

गीता के चतुर्थ अध्याय में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द का अर्थ लोककल्याण' अधिक उपयुक्त है। श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञ योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।¹⁵

हे अर्जुन! कुछ कर्म योगी धन द्वारा लोककल्याण रूपी यज्ञ करते हैं, कुछ अपने तप से लोककल्याण करते हैं, कुछ अष्टांगयोग पद्धति के अभ्यास द्वारा लोककल्याण करते हैं और कुछ शास्त्राध्ययन से ज्ञान—यज्ञ करते हुए अहिंसा आदि तीक्ष्ण व्रतों को धरण करने वाले मनीषी भी होते हैं। भाव यह है कि यज्ञ उसी क्रिया को कहा जाता है जिसके करने से जगत् के प्राणियों का शुभ हो। वह शुभ लाभ अपनी सम्पत्ति का शुभ कार्यों के लिये त्याग करके भी हो सकता है। सुख—दुःख को सहन करने वाले तपस्यारूपी कार्य से भी हो सकता है। योगाभ्यास और वेदाध्ययन रूपी कार्यों को लोककल्याणार्थ क्रियान्वित करने के लिए किये गए दृढसंकल्प द्वारा भी वह शुभ भला हो सकता है। इसलिये सभी यज्ञों का एक ही प्रयोजन होता है कि जीव को पूर्णज्ञान प्राप्त हो। अतः द्रव्ययज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि कर्मयोग के लिए पहले कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होना आवश्यक है।¹⁶ वह ज्ञान दर्शी के पास जाकर विनम्रतापूर्वक प्रश्न पूछने तथा सेवा करने पर प्राप्त किया जा सकता है।¹⁷ जैसी जलती हुई अग्नि ईंधन को जला देती है। वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि की समस्त पापों को भस्म कर देती है।¹⁸ इस संसार में दिव्यज्ञान के समान निःसन्देह कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान सम्पूर्ण योग की परिपक्व अवस्था का फल है। जो व्यक्ति योगाभ्यास करते—करते सिद्धावस्था (परिपक्वावस्था) में आ जाता है, वह समयानुसार अपने हृदय में इस ज्ञान का आस्वादन करता है,¹⁹ क्योंकि जो श्रद्धालु इस दिव्यज्ञान में समर्पित है तथा जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वही इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी है।²⁰

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि श्रीमद्भगवद् गीता सभी उपनिषदों का निष्कर्षरूप है, जिसके दिव्यज्ञान में ज्ञान, कर्म और भक्ति की धरा प्रवाहित हो रही है। योगीराज श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में अपने आप को योग का आदि प्रवक्ता बताते हुए पुनर्धर्मसंस्थापक एवं वर्ण विभाजक भी कहा है। निष्काम कर्मयोग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। कौन सा कर्म व्यक्ति को करना चाहिये और कौन-सा नहीं, इस विषय में ज्ञानीजन भी विचलित हो जाते हैं। कर्म, विकर्म और अकर्म के रहस्य को समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि कर्म को भी जानना आवश्यक है, विकर्म को भी और अकर्म को भी। शास्त्रानुसार जिस व्यक्ति का जो कर्म है, उसे उसका निर्वहण करना चाहिये, जैसे-क्षत्रिय का कर्म है-रक्षा करना। विकर्म का अर्थ है-विपरीत कर्म, जैसे-किसी पागल व्यक्ति के आततायी हो जाने पर उसे पकड़कर उसकी चिकित्सा करना न कि उसे मारना, यदि उसे मार दिया तो यह विकर्म हो जायेगा। इसी प्रकार अकर्म अर्थात् आलस्यवश अकर्मण्यता को भी समझना चाहिये। अतः जो व्यक्ति कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म के रहस्य को समझ लेता है, वही बुद्धिमान् कहा गया है, क्योंकि जिसने ज्ञानरूपी अग्नि में कर्मफलों को भस्मसात् कर दिया, क्योंकि जिसने ज्ञानरूपी अग्नि में कर्मफलों को भस्मसात् कर दिया है, उसको ही साधुजन 'पण्डित' कहते हैं। ऐसा व्यक्ति जीवनोपयोगी कर्मों को करता हुआ भौतिक चकाचौंध के मायाजाल में नहीं फंसता। ऐसे व्यक्ति के कर्म लोककल्याण के लिये होते हैं। 'यज्ञ' का अर्थ है- लोककल्याण। कुछ योगी घी-सामग्री इत्यादि से द्रव्य यज्ञ करते हैं, कुछ लोककल्याण के लिये तपोमय यज्ञ करने वाले हैं कुछ योग यज्ञ करते हैं और कुछ स्वाध्याय द्वारा ज्ञान यज्ञ करने वाले, पैनी धार का व्रत धरण करने वाले लोग हैं। कर्मकाण्ड के सभी याज्ञिक कर्म ज्ञान यज्ञ में ही समाप्त होते हैं। यह ज्ञान कैसे मिल सकता है? इसके लिये भगवान् कहते हैं कि यह तत्त्वज्ञानियों से विनम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते हुए उनकी सेवा करने से मिल सकता है। जिस ज्ञान को पाकर व्यक्ति मोह माया के बन्धन से मुक्त होकर अपने सभी कर्मों को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देता है तथा परोपकार अर्थात् लोककल्याण में लग जाता है। संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि श्रद्धालु और संयमित इन्द्रियों वाला व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है, जिससे वह शीघ्र ही परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया दिव्य ज्ञान एवं निष्काम कर्म का सिद्धान्त लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत है।

सन्दर्भ

1. ये मे मतमिंद नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।। भगवद्गीता, 3.31
2. भगवद्गीता, 4.1-3
3. वही, 4.10
4. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम्।। वही, 4.13
5. वही, 4.12
6. वही, 4.14
7. वही, 2.47
8. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे शुभात्।।

- कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ वही, 4. 16–17
9. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत् ॥ वही 4.18
10. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधः ॥ वही 4.19
11. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शरीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ वही 4.21
12. वही, पृ. 22
13. गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ वही प. 23
14. वही, पृ. 26
15. वही, पृ. 28
16. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तपः । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ वही पृ. 33
17. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ वही पृ. 34
18. यथैधांसि समिधेऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ वही पृ. 37
19. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रामिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धिः कालेनात्मनि विन्दति । वही पृ. 38
20. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ वही पृ. 39